जैनधर्म और दीक्षा

भारतकी संस्कृति और सभ्यता बहुत प्राचीन है। यहाँ समय-समयपर अनेक महापुरुषोंने जन्म लिया और विश्वको नीति एवं कल्याणका मार्ग प्रदर्शित किया है। भगवान् ऋषभदेव इन्ही महापुरुषोंमेंसे एक और प्रथम महापुरुष हैं, जिन्होंने इस विकसित युगके आदिमें नीति व स्वपर-कल्याणका संसारको पथ प्रदर्शित किया। श्रीमद्भागवतमें इनका उल्लेख करते हुए लिखा है—

'जब ब्रह्माने देखा कि मनुष्य-संख्या नहीं बढ़ी तो उसने स्वयम्भू मनु और सत्यरूपाको उत्पन्न किया। उनके प्रियव्रत नामका पुत्र हुआ। प्रियव्रतके अनीध्र, अनीध्रके नाभि और नाभि तथा मरुदेवीके ऋषभदेव हुए। ऋषभदेवने इन्द्रके द्वारा दी गई जयन्ती नामकी भार्यामें सौ पुत्र उत्पन्न किये और बड़े पुत्र भरतका राज्याभिषेक करके संन्यास ले लिया। उस समय उनके पास केवल शरीर था और वे दिगम्बर वेषमें नग्न विचरण करते थे। मौनसे रहते थे। कोई डराये, मारे, ऊपर थूके, पत्थर फेंके, मूत्र-विष्ठा फेंके तो इस सबकी ओर ध्यान नहीं देते थे। इस प्रकार कैवल्यपति भगवान् ऋषभदेव निरन्तर परम आनन्दका अनुभव करते हुए विचरते थे।'[1]

जैन वाङ्मयमें प्रायः इसी प्रकारका वर्णन है। कहा गया है कि भगवान् ऋषभदेव युगके प्रथम प्रजापति और प्रथम संन्यासमार्ग प्रवर्त्तक थे। उन्होंने ही सबसे पहले लोगोंको खेती करना, व्यापार करना, तलवार चलाना, लिखना-पढ़ना आदि सिखाया था और बादको स्वयं प्रबुद्ध होकर संसारका त्याग करके संन्यास लिया था तथा जगतको आत्मकल्याणका मार्ग बताकर ब्रह्मपद (अपार शान्तिके आगार निर्वाण) को प्राप्त किया था।[2]

इन दोनों वर्णनोंसे दो बातें ज्ञातव्य हैं। एक तो यह कि भ० ऋषभदेव भारतीय संस्कृति एवं सभ्यताके आद्य प्रवर्तक हैं। दूसरी यह कि उन्होंने आत्मिक शान्तिको प्राप्त करनेके लिए राज-पाट आदि समस्त भौतिक वैभवका त्यागकर और शान्तिके एकमात्र उपाय संन्यास—दैगम्बरी दीक्षाको अपनाया था। इससे यह ज्ञात होता है कि जैनधर्ममें प्रारम्भसे दीक्षाका महत्त्व एवं विशिष्ट स्थान है।

एक बात और है। जैनधर्म आत्माकी पवित्रताकी शिक्षा देता है। शिक्षा ही नहीं, बल्कि उसके आचरणपर भी वह पूरा जोर एवं भार देता है और ये दोनों चीजें बिना सबको छोड़े एवं दिगम्बरी दीक्षा लिये प्राप्त नहीं हो सकतीं। अतः आत्माकी पवित्रताके लिये दीक्षाका ग्रहण आवश्यकीय है।

यद्यपि संसारके विविध प्रलोभनोंमें रहते हुए आत्माको पवित्र बनाना तथा इन्द्रियों व मन और शरीरको अपने काबूमें रखना बड़ा कठिन है। किन्तु इन कठिनाइयोंपर विजय पाना और समस्त विकारोंको दूर करके आत्माको पवित्र बनाना असंभव नहीं है। जो विशिष्ट आत्माएँ उनपर विजय पा लेती हैं उन्हीं

---

१. पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैनधर्म, पृ० ५।

२. स्वामी समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्रगत ऋषभजिनस्तोत्र, श्लोक २, ३, ४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महान आत्माओंको जैनधर्ममें 'जिन' अर्थात् विकारोंको जीतनेवाला कहा है तथा उनके मार्गपर चलने वालोंको 'जैन' बतलाया है।

ये जैन दो भागोंमें विभक्त हैं :—१ गृहस्थ और साधु। जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच व्रतोंको एक देश पालते हैं उन्हें गृहस्थ अथवा श्रावक कहा गया है। इनके ऊपर कुटुम्ब, समाज और देशका भार होता है और इसलिये उनके संरक्षण एवं समृद्धिमें योगदान देनेके कारण ये इन व्रतोंको साधुकी तरह पूर्णतः नहीं पाल पाते। पर ये उनके पालनेकी भावना अवश्य रखते हैं। खेद है कि आज हम उक्त भावनासे भी बहुत दूर हो गये हैं और समाज, देश, धर्म तथा कुटुम्बके प्रति अपने कर्त्तव्यों-को भूल गये हैं।

जैनोंका दूसरा भेद साधु है। साधु उन्हें कहा गया है जो विषयेच्छा रहित हैं, अनारम्भी हैं, अप-रिग्रही हैं और ज्ञान-ध्यान तथा तपमें लीन हैं। ये कभी किसीका बुरा नहीं सोचते और न बुरा करते हैं। मिट्टी और जलको छोड़कर किसी भी अन्य वस्तुको ये बिना दिये ग्रहण नहीं करते। अहिंसा आदि उक्त पाँच व्रतोंको ये पूर्णतः पालन करते हैं। जमीन पर सोते हैं। यथाजात दिगम्बर नग्न वेषमें रहते हैं। सूक्ष्म जीवोंकी रक्षाके लिये पीछी, शौच-निवृत्तिके लिये कमण्डलु और स्वाध्यायके लिये शास्त्र इन तीन धर्मो-पकरणोंके सिवाय और कोई भी परिग्रह नहीं रखते। ये जैन शास्त्रोक्त २८ मूलगुणोंका पालन करते हुए अपना तमाम जीवन परकल्याणमें तथा आत्मसाधना द्वारा बन्धनमुक्तिमें व्यतीत करते हैं। इस तरह कठोर चर्या द्वारा साधु 'जिन' अर्थात् परमात्मा पदको प्राप्त करते हैं और हमारे उपास्य एवं पूज्य होते हैं। भर्तृहरिने भी वैराग्यशतकमें इस दि० साधु वृत्तिकी आकांक्षा एवं प्रशंसा की है। यथा—

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदाऽहं संभविष्यामि कर्मनिर्मूलन-क्षमः॥

'कब मैं अकेला विहार करनेवाला, निःस्पृही, शान्त, पाणिपात्री (अपने ही हाथोंको पात्र बना कर भोजन लेनेवाला), दिगम्बर नग्न होकर कर्मोंके नाश करनेमें समर्थ होऊँगा।'

नग्न-मुद्राका महत्व

नग्नमुद्रा सबसे पवित्र, निर्विकार और उच्च मुद्रा है। श्रीमद्भागवतमें ऋषभदेवका चरित वर्णित है। उसमें उन्हें 'नग्न' ही विचरण करनेवाला बतलाया है। हिन्दू-परम्पराके परमहंस साधु भी नग्न ही विचरते थे। शुक्राचार्य, शिव और दत्तात्रेय ये तीनों योगी नग्न रहते थे। अवधूतोंकी शाखा दिगम्बर वेषको स्वी-कार करती थी और उसीको अपना खास बाह्य वेष मानती थी। ऋक्संहिता (१०-१३६-२) में 'मुनयो बातवसनाः' मुनियोंको वातवसन अर्थात् नग्न कहा है। पद्मपुराणमें नग्न साधुका चरित देते हुए लिखा है—

नग्नरूपो महाकायः सितमुण्डो महाप्रभः।
मार्जनीं शिखिपक्षाणां कक्षायां स हि धारयन्॥

'वे अत्यन्त कान्तिमान् और शिर मुड़ाये हुए नग्न वेषको धारण किये हुए थे। तथा बगलमें मयूर पंखोंकी पीछी भी दबाये हुए थे।' इसी तरह जाबालोपनिषद्, दत्तात्रेयोपनिषद्, परमहंसोपनिषद्, याज्ञवल्क्योपनिषद् आदि उपनिषदोंमें भी नग्नमुद्राका वर्णन है।

ऐतिहासिक अनुसन्धानसे भी नग्नमुद्रापर अच्छा प्रकाश पड़ता है। मेजरजनरल जे० जी० आर फर्लाङ्ग अपनी Short Studies in Science of Comparative Religiors (वैज्ञानिक दृष्टिसे धर्मोंका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुलनात्मक संक्षिप्त अध्ययन) नामकी पुस्तकमें लिखते हैं कि 'हमने दुनियाके सर्व धार्मिक विचारोंको सच्चे भावसे पढ़कर यह समझा है कि इन सबका मूलकारण विचारवान् जैनियोंका यतिधर्म है। जैन साधु सब भूमियोंमें सुदूर पूर्वकालसे ही अपनेको संसारसे भिन्न करके एकान्त वन व पर्वतकी गुफाओंमें पवित्र ध्यानमें मग्न रहते थे।'

डाक्टर टाम्स कहते हैं कि 'जैन साधुओंका नग्न रहना इस मतकी अति प्राचीनता बताता है।'

सम्राट चन्द्रगुप्तके समयमें नग्न गुरुओंकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। मुद्राराक्षसके कर्ता प्रसिद्ध विद्वान् कवि कालिदासने लिखा है कि इसीलिये जासूसोंको नग्न साधुके वेषमें घुमाया जाता था। नग्न साधुओंके सिवा दूसरोंकी पहुँच राजघरानोंमें उनके अन्तःपुर तक नहीं हो पाती थी। इससे यह विदित हो जाता है कि जैन निर्ग्रन्थ साधु कितने निर्विकार, निःस्पृही, विश्वासपात्र और उच्च चारित्रवान् होते हैं और उनकी यह नग्नमुद्रा बच्चेकी तरह कितनी विकारहीन एवं प्राकृतिक होती है।

साधुदीक्षाका महत्व

इस तरह आत्म-शुद्धिके लिये दिगम्बर साधु होने अथवा उसकी दीक्षा ग्रहण करनेका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। जब मुमुक्षु श्रावकको संसारसे निर्वेद एवं वैराग्य हो जाता है तो वह उक्त साधुकी दीक्षा लेकर साधनामय जीवन बिताता हुआ आत्म-कल्याणकी ओर उन्मुख होता है। जब उसे आत्मसाधना करते-करते आत्मदृष्टि (सम्यग्दर्शन), आत्मज्ञान (सम्यग्ज्ञान) और आत्मचरण (सम्यक्चारित्र) ये तीन महत्त्वपूर्ण आत्म-गुण प्राप्त हो जाते हैं और पूर्ण वीतराग सर्वज्ञ बन जाता है तो वह उन गुणोंको प्राप्त करनेका दूसरोंको भी उपदेश करता है। अतएव साधु-दीक्षा एवं तपका ग्रहण स्वपर-कल्याणका कारण होनेसे उसका जैन धर्ममें विशिष्ट स्थान है। दूसरोंके लिये तो वह एक आनन्दप्रद उत्सव है ही, किन्तु साधुके लिये भी वह अपूर्व आनन्दकारक उत्सव है। और इसीसे पण्डितप्रवर दौलतरामजीने निम्न पद्यमें भव-भोगविरागी मुनियोंके लिये 'बड़भागी' कहा है—

'मुनि सकलव्रती बड़भागी, भव-भोगनतें वैरागी।
वैराग्य उपावन माई, चिन्तौ अनुप्रेक्षा भाई॥

जैन शास्त्रोंमें बतलाया गया है कि तीर्थंकर जब संसारसे विरक्त होते हैं और मुनिदीक्षा लेनेके लिये प्रवृत्त होते हैं तो एक भवावतारी, सदा ब्रह्मचारी और सदैव आत्मज्ञानी लौकान्तिक देव उनके इस दीक्षा-उत्सवमें आते हैं और उनके इस कार्यकी प्रशंसा करते हैं। पर वे उनके जन्मादि उत्सवोंपर नहीं आते। इससे साधु-दीक्षाका महत्त्व विशेष ज्ञात होता है और उसका कारण यही है कि वह आत्माके स्वरूपलाभमें तथा परकल्याणमें मुख्य कारण है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org